SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

राज्य सत्ता और उत्तर आधुनिक बाजारवाद

दिनेश कुमार शर्मा, शोधार्थी, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Corresponding Author
दिनेश कुमार शर्मा, शोधार्थी, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान, भारत

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 06/09/2021
Revised on : -----
Accepted on : 13/09/2021
Plagiarism : 00% on 06/09/2021

शोध सार

भूमंडलोत्तर भारत में राज्य सत्ता और बाजार के स्वरूप में परिवर्तन आया है। सामंती शासन व्यवस्था में राज्य सत्ता का दायित्व प्रजा संरक्षण का था जो पूंजीवादी व्यवस्था में बाजार संचालित नियंत्रक की ओर संक्रमित हो रहा है। वैश्विक बाजार व्यवस्था आवश्यकता आपूर्ति के परंपरागत मापदंडों को नवीन मुनाफा प्रेरित सिद्धांतों में रूपांतरित कर रही है। वैश्विक निगमनात्मक बाजार व्यवस्था के राह का रोड़ा बना राज्य अब धीरे धीरे मुक्त बाजार के साथ सहयोगात्मक रूप में विकास के नये मापदंड गढ़ रहा है। मांग–पूर्ति की जजमानी व्यवस्था के संवेदनात्मक पक्ष को बाजार ने लाभ केन्द्रित व्यवस्था में बदल दिया है। अब बाजार व्यवस्था राज्य के नियंत्रण में नहीं होकर राज्य सत्ता को संचालित करने की ओर बढ़ रही है। इस सत्ता बाजार पूंजी के नये संबंध में लोकतांत्रिक व्यवस्था के लोक का महत्त्व अब अर्थ ने ले लिया है।

मुख्य शब्द

बाजारवाद, वैश्वीकरण, आर्थिक कल्याण, वैश्विक पूंजी, निजीकरण, उपभोक्तावाद.

प्रस्तावना

समकालीन उत्तर आधुनिक परिवेश पूंजीवाद के लिए सामाजिक स्वीकृति और प्रतिष्ठा लेकर आया है। इस उपलब्धि के बाद पूंजीवाद बाजारवाद के जरिए तीसरी दुनिया के देशों पर राजनीतिक नियंत्रण हासिल करने की ओर कदम बढ़ा चुका है। वह सब पूंजीवाद के पुरोधाओं की सोची समझी रणनीति का ही एक हिस्सा है क्योंकि ''स्वयं को लोकतंत्र मानने वाले पश्चिमी देशों के विचारक और शासक तीसरी दुनिया के देशों को जनतंत्र के लिए अक्षम मानते आये हैं। वे खुले नहीं तो प्रच्छन्न रूप से विकास की संभावनाएं इस भूभाग में जनतंत्र द्वारा नहीं, सम्पूर्ण या आंशिक तानाशाही द्वारा संभव मानने के

आदि रहे हैं।''[1]

तीसरी दुनिया को अपने प्रभुत्व में लेने के लिए एक ध्रुवीय विश्व या अधिराष्ट्रीयता का भ्रम पैदा कर राज के गठन में जन के स्थान पर धन को प्रतिस्थापित किया जा रहा है। इससे ''राजनीतिक राज के सामाजिक राज में अंतरित होने के बदले राजनीतिक राज का अंतरण नैगमिक राज में हो रहा है।''[2] वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ''वैश्वीकरण का अर्थ बाजारों का खुलना है। एक संस्थान जिसने अधिकतर देशों में राज्य या अन्य सार्वजनिक संगठनों को पूर्णतया पराजित कर दिया है। विकासशील देशों के लिए बाजार के नए मंत्र से राज्य नेपथ्य में जा रहा है जिससे राज्य खर्च सामाजिक क्षेत्र तक सीमित हो गया है। इसमें राज्य से सहायता प्राप्त स्कूल, अस्पताल तथा आवास, ईंधन, यातायात एवं बिजली आदि पर राज्य अनुदान शामिल है जो समाज के गरीब वर्गों के लिए महत्त्वपूर्ण है। बाजारों द्वारा मूल्य तय करने तथा वस्तुओं एवं सेवाओं की गुणवत्ता में बदलाव (यहाँ तक कि राज्य उद्योगों द्वारा प्रदत्त भी) लाने से वृद्धि हो रही है लेकिन विकास तेजी से समाप्त होता जा रहा है।''[3]

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. अमर्त्य सेन ने राज्य और बाजार के संबंधों की भूमिका और वास्तविक विकास लक्ष्य प्राप्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि ''सामाजिक अवसरों को बढ़ाकर राज्य यदि जन साधारण की क्षमताएँ बढ़ाता है और इस प्रकार उन्हें आर्थिक कल्याण में भागीदार बनाने के लिए समर्थ बनाता है तो यहीं क्षमताएँ बाजार को भी व्यापक आर्थिक कल्याण का माध्यम बनाने में सफल होती हैं। राज्य की मदद से अर्जित की गई क्षमताएं यदि पहले न तैयार की गई हो तो बाजार का खुलना और उदारीकरण और भी विघटनकारी तथा सामान्य जन के लिए अहितकारी बन जाता है।''[4] भीषण दुर्घटना यही घटी कि वैश्विक पूंजी के दबाव में तीसरी दुनिया के देशों ने बिना किसी पूर्व तैयारी के अपनी लस्त–पस्त अर्थव्यवस्था के साथ उदारीकरण और बाजारवाद के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रक्रिया की सहज स्वाभाविक तार्किक परिणति के अनुरूप अमेरिकी पूंजी भिन्न–भिन्न दरवाजों से तीसरी दुनिया के देशों में प्रविष्ट होने लगी। अभी तक राज को जो ताकत जन और समाज से मिल रही थी, अब वह ताकत धन और बाजार से मिलने लगी है। बड़े–बड़े राजनेता, बड़े–बड़े अफसर, बड़े–बड़े देशी–विदेशी व्यापारी ये सब मिलकर इन देशों में सार्वजनिक क्षेत्र में विनिवेश के निर्णय ले रहे है और हर क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश का रास्ता प्रशस्त कर स्वतंत्र नीतियों को तिलांजलि दे रहे हैं। भारत सहित अन्य सभी विकासशील देशों की राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण में वैश्विक वित्तीय तथा व्यापार संस्थानों का विशिष्ट प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। ''इन संस्थानों में आई एम एफ, विश्व बैंक, डब्ल्यूटीओ तथा यहाँ तक कि ओईसीडी नियंत्रित बैंक फॉर इन्टरनेशनल सेटलमेंट (बीआईएस) शामिल हैं। प्रथम तीन यूएन निकाय है। अपनी विस्तृत सदस्यता के बावजूद ये तीन यूएन संस्थान अमीर सदस्य राष्ट्रों द्वारा अधिकतर उनके सामूहिक राष्ट्रीय हित में नियंत्रित तथा संचालित किए जाते हैं। इन संस्थानों द्वारा पालन किए जाने वाले मार्गदर्शी सिद्धान्त रूढ़िवादी नव–उदार मतों से तैयार हुए हैं। इनके साधनों में अन्य बातों के अलावा राजकोषीय खर्च में कटौती (जो अधिकतर सामाजिक खर्च को कुचल देता है), सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों का लाभकारिता के साथ निजीकरण, घरेलू पूंजीबाजार का विनियमन, औद्योगिक नियंत्रण को हटाना, देशों के बीच व्यापार अवरोधों को हटाना, श्रम बाजार सख्ती को हटाना, मुद्रा संबंधी तथा राजकोषीय कटौतियों द्वारा मुद्रास्फीति पर लक्ष्य साधना तथा अंत में विदेशी भुगतानों तथा आय (प्राप्तियों) पर लगे नियंत्रण उठाना।''[5] कुल मिलाकर सारे कदम इस दिशा में उठाए गए कि बाजार बलों को मजबूत कर राज्य प्रशासन को न्यूनतम स्तर तक सीमित किया जा सके।

राजनीति और अर्थनीति का संबंध अन्योन्याश्रित है। बाजार ने अपनी अकूत धन–सम्पदा के बल पर केंद्रीय नीति–निर्माण को अपने पक्ष में मोड़ कर राज्यसत्ता के लिए विकट संकट पैदा कर दिया है। इससे केंद्रीय सत्ता के अवमूल्यन के रूप में राष्ट्र–राज्य का आभामंडल क्षीण हुआ है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह प्रवृत्ति न केवल कांग्रेस के शासनकाल में देखी गई, बल्कि दक्षिणपंथी कही जाने वाली भाजपा के शासनकालों में भी। ''केंद्रीय सरकार की नीतियों के साथ–साथ राज्य सरकारें भी भूमंडलीकरण के खेल में बाजार की पूंजीवादी शक्तियों के द्वारा प्रभावित, संचालित व निर्देशित हो रही हैं।''[6]

बाजारवाद अपने हित में वैचारिक समानता को मूल्य के रूप में स्थापित कर विचारधाराओं की विविधता क्रमशः समाप्त कर रहा है इसीलिए ''राजनीति अब नैतिकता, परिवर्तन की विचारधारा और जनता के मुद्दे छोड़कर बाजार की क्रीतदास बन गई है।''[7] इस संदर्भ में थॉमस फ्रीडमैन का कहना है कि ''भूमंडलीकरण की नीतियों को स्वीकार कर लेने के पश्चात राजनीतिक चयन पेप्सी और कोला के मध्य चयन जैसा सीमित हो जाता है।''[8] जनता किसी भी सरकार को चुनकर खुशफहमी में जीती रहे, लेकिन इन सरकारों के पीछे एक अदृश्य सरकार का शासन चल रहा है जिसकी डोर बहुराष्ट्रीय कंपनियों, विश्व बैंक या एशियाई विकास बैंक जैसे उसके अधीनस्थ बैंकों के हाथों में सम्मिलित रूप से है। इनके पिछलग्गू बने राजनीतिज्ञ जनता पर भरोसा घटाकर बड़ी पूंजी, राजनीतिक प्रबंधन और सूचना प्रौद्योगिकी पर ज्यादा भरोसा करने लगे है। आज सत्ता के लिए सिद्धांतों से किसी का किसी से भी समझौता हो सकता है। बाजार ने जनसेवकों का कायांतरण घाघ राजनेताओं में कर दिया है। वे अब ''एक हाथ से दो कबूतर पकड़ना चाहते हैं। विश्व बाजार व्यवस्था में अमीरों को छोड़कर हिस्सेदारी नहीं हो सकती। चुनाव नहीं हो सकते इसलिए बाजारवाद और उदारीकरण का मानवीय चेहरा दिखाने के लिए सस्ता अनाज, सर्वशिक्षा, ग्रामीण स्वास्थ्य, रोजगार गारंटी और सामयिक राहत''[9] जैसे कदम समय–समय पर जनहित के नाम पर उठाते दिखाए जाते हैं, जबकि स्वास्थ्य, शिक्षा, पानी, रोजगार जैसी बुनियादी सुविधाओं को उपलब्ध कराने के लिए भी सरकारें गंभीर दिखाई नहीं देती। यह समय और समाज की विडम्बना ही है कि जनता द्वारा निर्वाचित सरकार जिसे जनकल्याण के लिए तत्पर रहना चाहिए, आज बाजार के समक्ष खुशी–खुशी आत्मसमर्पण कर रही है।

आम जनता इन विकट स्थितियों के विरूद्ध कोई आंदोलन न करे, इसके लिए बाजार तकनीकी माध्यमों और विज्ञापन के जरिए एक सुनियोजित षड्यंत्र चला रखा है। ''मध्यवर्ग को इसमें मुख्य रूप से निशाना बनाया गया है। विज्ञापन के लुभावने नारे व बाजार में उपलब्ध ऋणों के माध्यम से उपभोक्तावाद का ऐसा जाल बुना गया है कि नवधनाढ्यों की एक अलग ही संस्कृति का जन्म हुआ है।''[10] उपभोक्तावाद में लीन यह वर्ग स्वयं को अमेरिकी कहलाने में गर्व की अनुभूति करता है। शेष जनता में से यदि कोई वर्ग अपने मौलिक अधिकारों के हक में आवाज उठाने की कोशिश करता है तो पूँजीपतियों के समर्थन को उतावली सरकारें अपने हक के लिए लड़नेवाली जनता के विरूद्ध बल प्रयोग से भी नहीं हिचक रही है। ऐसे उदाहरण विकासशील देशों में ही नहीं विकसित देशों में भी आसानी से दिखाई दे जाते हैं।

एंथनी एच रिचमंड ने 1984 में लिखे 'एथनिक नेशनलिज्म एंड पोस्ट इंडस्ट्रियलिज्म' निबंध में कहा था कि औद्योगिक पूंजीवाद आने पर चर्च और राजसत्ता के गठबंधन का स्थान राष्ट्र और राजसत्ता के गठबंधन ने ले लिया।''[11] उत्तर औद्योगिक समाज में राष्ट्र और राजसत्ता के बजाय बाजार और राजसत्ता का गठबंधन सामने आया। राष्ट्र और राजसत्ता के गठबंधन ने जातीय राज्यों को जन्म दिया था। उनमें औद्योगिक समाज में शक्तिशाली बने वर्गों का संतुलन मौजूद था। बाजारवाद ने 'एप्लायर्स मिलिटेंसी' के युग का सूत्रपात किया इससे वर्गों का संतुलन ही नहीं टूटा जातीय राज्य का स्वरूप भी संकट में पड़ गया। राज्य सत्ता का जैसा अभूतपूर्व संकट वर्तमान में दिखाई दे रहा है उसमें आमजन के लिए जीवन स्थितियों विषम से विषमतर होती जा रही हैं।

समूचे विश्व में भूमंडलीकरण का अनुभव सिद्ध करता है कि बाजार राज्य का स्थान लेता जा रहा है। यद्यपि बाजार और राज्य का अलग–अलग दायित्व है। बाजार का तर्क आर्थिक होता है। वह लाभ और दक्षता तक केंद्रित होता है जबकि राज्यों का तर्क राजनीतिक होता है अर्थात् सत्ता और वैधता। राज्य समूचे जनता के विकास के लिए प्रतिबद्ध होता है। विशेषकर विकासशील देशों में राज्य की भूमिका जनता के विकास के अतिरिक्त सभी के समतामूलक विकास के लक्ष्य पर भी केन्द्रित होती है। दूसरी ओर बाजार का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाने तक केन्द्रित होता है। बाजार का सरोकार सामाजिक समरसता, संतुलित आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना जैसे उद्देश्यों से नहीं होता। उस पर कठिनाई यह कि बाजारवाद के प्रायोजक तीसरी दुनिया के देशों में बाजार को राज्य की तरह और राज्य को बाजार की तरह संचालित कर रहे हैं। पूंजीवाद की प्रकृति को रेखांकित करते हुए अड़ोर्नो ने लिखा था कि ''पूंजीवाद के अंतर्गत सभी प्रकार का उत्पादन बाजार के लिए होता है। वस्तुओं का उत्पादन मनुष्यों की जरूरतों और इच्छाओं के लिए नहीं किया जाता है बल्कि केवल लाभ और अधिक पूंजी अर्जन के लिए किया जाता है।''[12]

ऐसे में बाजार से यह उम्मीद तो कतई नहीं थी कि वह लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा करेगा या लोकतांत्रिक सरकारों को सफल बनाएगा पर जिस तत्परता से वह सार्वभौमिकता के नाम पर साम्राज्यवाद का जाल फैला रहा है उसने तीसरी दुनिया के देशों को एक नए उपनिवेशवाद की ओर धकेल दिया है। वास्तव में विकासशील देशों में वैश्वीकरण के वर्तमान चरण में बाहरी प्रभुत्व का पुनरूत्थान हुआ है। इन क्षेत्रों में नियंत्रण के प्रकार तथा इसके प्राधिकार प्रसार के चौनल पिछले औपनिवेशिक शासन के औपचारिक तरीकों से बहुत भिन्न है। बाजारों के आंदोलनों ने कहने को विकसित और विकासशील दोनों देशों की नीतियों को प्रभावित किया लेकिन इसका परिणाम विकासशील देशों में विदेशी मुद्रा को चतुराई से अपने पक्ष में करने की क्षमता थी। विकसित देशों से समझौते के मामले में विकासशील देशों के पास व्यापार नीतियों को चुनौती देने के लिए मोलभाव करने की शक्ति बहुत कम है इसीलिए तीसरी दुनिया के राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय पूंजीवादी प्रणाली के भीतर एक छुटभैया हिस्सेदार बनकर रह गए। यह स्वैच्छिक भूमंडलीकरण है जो शासकों के प्रायोजित स्वैच्छिक समर्पण के माध्यम से हुआ है। उपनिवेशवाद के इस उत्तर आधुनिक संस्करण को ही फिदेल कास्त्रो ने 'साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण' कहा है, ऐसा इसलिए क्योंकि ''वैश्वीकरण के वर्तमान चरण में अग्रणी देशों तथा वैश्विक बाजार द्वारा इस्तेमाल किए गए अधिकार ऐसा पैटर्न दिखाते हैं जो पुराने औपनिवेशिक आक्रामकता तथा या सतही औपनिवेशिक शासन की तुलना में अधिक जटिल है। एक और विकासशील देशों में राज्य, अभिजात वर्ग तथा सामान्य जनता के बीच तथा दूसरी ओर राष्ट्रों के बीच परस्पर सम्बन्धों में युद्ध पूर्व के उन दिनों से बहुत अधिक बदलाव आया है जब ये विदेशी शासन के अंतर्गत थे।''[13]

निष्कर्ष

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण प्रेरित बाजारवाद वास्तव में विश्व पूंजीवाद का वर्चस्ववादी अभियान है। पूरी दुनिया के जल, थल, आकाश, प्राकृतिक संपदा, मानव संसाधन सभी का अपने हित में दोहन की अनवरत प्रक्रिया की स्थापना ही उसका लक्ष्य है। इस तरह के स्वार्थ से प्रेरित गतिविधियों ने एक नए प्रकार की राजनीति को जन्म दिया है जो अब राष्ट्रों की सीमाएं तोड़ रहा है, राष्ट्रीय संप्रभुता को नष्ट कर रहा है। राष्ट्रीय विशिष्टताओं पर आधारित भाषा–संस्कृति की पहचान को ध्वस्त कर रहा है। एक जमाने में पूंजीवाद ने नगर–राज्यों को तोड़कर राष्ट्र–राज्यों का निर्माण किया था, आज पूंजी इतनी बढ़ गई है कि वह अपने प्रसार के लिए राष्ट्र–राज्यों में कठपुतली सरकारें बनवाकर उस राष्ट्रवाद को खत्म कर रहा है जो साम्राज्यवाद के खिलाफ विकसित हुआ था। औपनिवेशिक राज्यों में विदेशी शासन के खिलाफ जो राष्ट्रीय चेतना पनपी थी उसका रूपान्तरण सुनियोजित तरीके से साम्राज्यवाद परस्ती में किया जा रहा है। यह साम्राज्यवाद का नया रूप है जो अपने को सार्वभौम बनाकर या कहे कि दिखाकर विश्व पूंजी पर काबिज बड़े–बड़े निगमों, संस्थानों और पूंजीपति देशों के हित में काम कर रहा है। निश्चय ही बाजारवाद की यह नई भूमिका राष्ट्रों की स्वतंत्रता और संप्रभुता को बेमानी बना रही है।

संदर्भ सूची

1. जोशी पूरन चन्द्र, अमर्त्य सेनः एक अखंडित अर्थशास्त्री, हंस, दिसंबर 1998, पृ. 48।
2. कोलख्यान प्रफुल्ल समाज सत्ता और संस्कृति, हंस, जनवरी 2002, पृ. 66।
3. सेन सुनन्दा, वैश्वीकरण और विकास– एक उपसंहार के साथ (अनु. दीपाली ब्राह्मी), पृ. 31।
4. जोशी पूरन चन्द्र, अमर्त्य सेनः एक अखंडित अर्थशास्त्री, हंस, दिसंबर 1998, पृ. 44।
5. सेन सुनन्दा, वैश्वीकरण और विकास– एक उपसंहार के साथ (अनु. दीपाली ब्राह्मी), पृ. 27।
6. भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प, पृ. 126।
7. शंभुनाथ, विश्वबाजार में संस्कृति, नया ज्ञानोदय, फरवरी 2010, पृ. 96–97।
8. भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प, पृ. 126।

9. वही, पृ. 128
10. तिवारी अजय, उत्तर आधुनिक विश्व और प्राक आधुनिक विश्वबोध, नया ज्ञानोदय, फरवरी 2010, पृ. 79।
11. वही, पृ. 79।
12. जोशी राम शरण, संचार माध्यम और वर्ग चरित्र, हंस, सितंबर 1998, पृ. 35।
13. सेन सुनन्दा, वैश्वीकरण और विकास–एक उपसंहार के साथ (अनु. दीपाली ब्राह्मी), पृ. 9।

****